23 दिसंबर 2005

सत्र 12

रमा कांत अग्निहोत्री

सम्मेलन के इस आखरी, एक तरह से अतिरिक्त सत्र में स्वागत है। मैं श्री रियाज़ तहसीन का शुक्रगुज़ार हूं कि उन्होंने इतनी अल्प सूचना पर आना स्वीकार किया। वैसे वे अगले सत्र में आने वाले थे मगर हमने इन दो सत्रों को जोड़ दिया है। इसका कारण मैं आगे बताऊंगा। मैं अध्यक्ष से गुज़ारिश करता हूं कि वे सत्र को शुरू करें।

अध्यक्ष : रियाज़ तहसीन

तीसरे दिन के इस अंतिम सत्र में स्वागत है। समय की कमी को देखते हुए मैं साधना जी से अनुरोध करूंगा कि वे अपनी बात रखें।

साधना सक्सेना

विज्ञान शिक्षा में बदलाव की अड़चनें

दरअसल, यह कोई औपचारिक पर्चा बगैरह नहीं है। मैं सिर्फ कुछ बिंदुओं को, कुछ मुद्दों को रेखांकित करना चाहती हूं जो मेरे मन में हैं जिन्हें मैं विकसित कर पाई हूं। सोचा तो यह था कि हार्डी और मैं मिलकर 'विज्ञान शिक्षा में बदलाव की अड़चनें' विषय पर बोलेंगे। जब हम अड़चनों की बात करते हैं तो आम तौर पर स्कूल तंत्र की सीमाओं, शिक्षकों की समस्याओं की बात करके रुक जाते हैं, और आजकल अड़चनों की अधिकांश चर्चा पहुंच, बच्चों को स्कूल में बनाए रखने, असहयोगी सरकारी नीतियों, संसाधनों के अभाव, घटिया अधोसंरचना वगैरह तक सीमित रहती है। मुझे पता है कि कई सहभागियों ने प्रशासनिक प्रक्रियों में सुधार, राजनैतिक निहित स्वार्थों और शिक्षकों की समस्याओं की चर्चा की है। इसके अलावा यह भी चर्चा हुई है कि शिक्षकों को किस ढंग की शैक्षिक मदद मिलती है या नहीं मिलती है, किसी भी तरह की सार्थक विज्ञान शिक्षा के लिए या सामान्य तौर पर शिक्षा के लिए किस तरह की सतत मदद की आवश्यकता होती है।

मैं इनमें से किसी भी मुद्दे की बात नहीं करूंगी, क्योंकि शायद हार्डी इनमें से कुछ मुद्दों की बात करेगा मगर मुझे लगता है कि ये वे मुद्दे हैं जिनकी बात हम हर समय करते रहते हैं। मेरा मतलब यह नहीं है कि ये मुद्दे महत्वपूर्ण नहीं हैं। ये बहुत महत्वपूर्ण हैं, ये असली मुद्दे हैं और इनका शिक्षा पर गहरा असर होता है। ऐसा नहीं है कि मैं इन मुद्दों का महत्व नहीं समझती, बल्कि होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (हो.वि.शि.का.) में काम करके और बरसों तक स्कूली शिक्षा के साथ जुड़े रहकर मैंने समझा है कि इन मुद्दों की क्या अहमियत है। और जिस ढंग के परिवर्तन हो रहे हैं, जिस ढंग से समूचे शिक्षक समुदाय को हाशिये पर धकेला जा रहा है, ये मुद्दे बहुत महत्वपूर्ण हो जाते हैं। मैंने सोचा कि इस प्रस्तुतीकरण के लिए मैं इन मुद्दों को थोड़ा अलग

रखकर, जिसका कारण मैं बताऊंगी, एक ऐसी चीज़ पर ध्यान केंद्रित करूंगी जिसकी चर्चा हम पिछले दो दिनों से इस सम्मेलन में कर रहे हैं। ऐसा नहीं है कि ये व्यावहारिक मुद्दे शैक्षिक मुद्दों पर असर नहीं डालते मगर होता यह है कि कई बार हम उपरोक्त समस्याओं में इतने खो जाते हैं कि हम उन शैक्षिक मुद्दों की बात ही नहीं करते जिनका असर होता है।

मैं स्कूल शिक्षा और खास तौर से विज्ञान शिक्षा की चर्चा दो किस्म की संस्थाओं के संदर्भ में करना चाहती हूंः एक, औपचारिक संस्थाएं, अध्यापक शिक्षा संस्थाएं, मैं इन्हें शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएं नहीं कहती हालांकि औपचारिक रूप से वही नाम है। और दूसरी, वे संस्थाएं जो नवाचार के काम में लगी हैं, और चूंकि मैं एक ही ऐसी संस्था - किशोर भारती - से जुड़ी रही हूं, तो ज़ाहिर है कि मैं किशोर भारती और हो.वि.शि.का. के संदर्भ में ही बात कर सकती हूं। मैं स्वयं को उसी समयावधि तक सीमित रखूंगी जब किशोर भारती अस्तित्व में थी और हो.वि.शि.का. में संलग्न थी। मैं जानती हूं कि उसके बाद कई परिवर्तन हुए हैं, मगर मैं उसी अवधि के आधार पर विचार करना चाहूंगी जब मैं कार्यक्रम में सक्रिय रूप से शामिल थी और मेरा ख्याल है कि उनमें से कई चीज़ें आज भी अस्तित्व में हैं। औपचारिक संस्थाओं, शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में वे आज भी विज्ञान शिक्षा का वही बरसों पुराना पाठ्यक्रम चलाते हैं जिसमें ज्ञान, वैज्ञानिक ज्ञान, के हस्तांतरण को विज्ञान शिक्षण का प्रमुख लक्ष्य मानकर चलते हैं। न तो शिक्षा पद्धति के मुद्दों से जूझने की कोई परंपरा है और न ही ज्ञान के भंडार को नवीनीकृत करने की कोई कोशिश है।

हाल के वर्षों में 'बाल-केंद्रित शिक्षण पद्धति' और इस तरह के जुम्लों के उपयोग की फैशन चली है, बगैर यह समझे कि इनका अर्थ क्या है, कक्षा की परिस्थिति में इन्हें थोड़े परिष्कृत ढंग से कैसे लागू किया जाता है। पियाजे से हासिल 'स्कैफोल्डिंग' व अन्य शब्दावली भी अध्यापकों की भाषा का अंग बन गए हैं। अलबत्ता, इनमें से किसी भी चीज़ ने शिक्षक-प्रशिक्षकों को स्वयं अपनी सीखने की प्रक्रिया पर ध्यान देने को या संस्थाओं में सीखने का माहौल बनाने को प्रेरित नहीं किया है। वास्तव में किसी भी तरह के बदलाव को लेकर, नए विचारों और नए ज्ञान को लेकर ज़बर्दस्त प्रतिरोध है और परिवर्तन का आम तौर पर स्वागत नहीं किया जाता। शिक्षक अध्यापकों में और शैक्षिक हायरार्की के विभिन्न स्तरों पर असुरक्षा के चलते शिक्षक अध्यापन संस्थाएं किसी भी शैक्षिक परिवर्तन की राह में रोड़ा बन गई हैं। इस बौद्धिक रुकावट के प्रभावों को समझना एक गंभीर मुद्दा है और यथास्थिति हिमायतियों को 'संसाधनों के अभाव' का बहाना बनाने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। जैसा कि मैंने पहले ही कहा, यह सही है कि पुस्तकालय जैसे संसाधनों का अभाव एक समस्या तो है मगर जब भी हम उस चीज़ की बात करते हैं जिसे मैं शैक्षिक आलस कहती हूं तो होता यह है कि हम इन व्यावहारिक समस्याओं में उलझ जाते हैं। मैं कहना यह चाहती हूं कि यह अरुचि, उदासीनता और प्रतिरोध सिर्फ संसाधनों के अभाव का नतीजा नहीं है। ये दो चीज़ें जुड़ी हुई है मगर अलग-अलग भी हैं और वास्तव में इस अरुचि, उदासीनता व प्रतिरोध की संजीदा छानबीन की ज़रूरत है। इस संस्थाओं में ठहराव जानी-मानी बात है मगर विज्ञान शिक्षा की घटिया गुणवत्ता सम्बंधी बहसों में यह कभी केंद्रीय मुद्दा नहीं बन पाता। वैसे शैक्षिक जड़ता एक और स्तर पर भी मौजूद है। हो.वि.शि.का. में शिक्षक समर्थन तंत्र पारंपरिक तंत्र की अपेक्षा कहीं अधिक मज़बूत रहा है मगर प्रयोग-आधारित शिक्षण सीखने की प्रक्रिया पर सीमाएं आरोपित करता है। जैसा कि कई वक्ता बता चुके हैं, प्रयोग-आधारित सीखना उस निष्क्रिय सीखने के प्रत्युत्तर में लागू किया गया था जिसका बोलबाला 1970 के दशक में लगभग सारे स्कूलों में था। हालांकि आज भी अधिकांश स्कूलों में यह स्थिति है मगर आज तीस बरस बाद उसी दलील का उपयोग नहीं किया जाना चाहिए; हमारी समझ मे कुछ तो फर्क आना चाहिए। कई सवालों, बहसों और विवादों के बावजूद हो.वि.शि.का. उस शैली

में दो दशक से अधिक समय तक चलता रहा। इस शैली के चलते कुछ विषयों को छोड़ देना पड़ा क्योंकि उनके लिए प्रयोग डिज़ाइन करना संभव नहीं था। सुशील ने इस पर चर्चा की ही है, और मेरे ख्याल में वह एक महत्वपूर्ण पर्चा है जिस पर गौर करने की ज़रूरत है। वास्तव में इन विषयों और अध्यायों को छोड़ने के पीछे दो तर्क थे। एक तो यही था कि हम उनके लिए कक्षा की परिस्थिति में करने योग्य प्रयोग तैयार नहीं कर पाए थे, और दूसरा कि ये विषय और अवधारणाएं निहायत अमूर्त थे। खैर, प्रयोग-आधारित खोज पद्धति लगभग हम सबके लिए एक धर्म के समान थी - मैं यह नही कह रही हूं कि मैं इसका हिस्सा नहीं थी, मैं पूरी तरह इसमें शामिल थी और दरअसल इससे प्रभावित थी। और सीधे जानकारी देने की ज़रूरत को हमेशा यह कहकर टाल दिया जाता था कि 'अपने शिक्षक से चर्चा करो'। यह बहुत महत्वपूर्ण बात है क्योंकि हमारी किताब में - हो सकता है अब स्थिति बदल गई हो - आम तौर पर 'शिक्षक से चर्चा करो' का यह सुझाव ऐसी स्थितियों में दिया गया है जहां सीधे जानकारी देने की, किसी-न-किसी रूप में व्याख्या या शायद कहानी या इतिहास वगैरह शामिल करने की सख्त ज़रूरत थी। लिहाज़ा कुछ विषय पाठ्यक्रम के बाहर ही रहे और शिक्षकों और पालकों के भारी विरोध के सबब बने। उनका कहना था कि उनके छात्रों को, उदाहरण के लिए, परमाणु संरचना से या अन्य कुछ चीज़ों से वंचित रखा जा रहा है, जिनकी बात सुशील ने की। इस सबके बावजूद ये विषय बरसों तक शामिल नहीं किए गए। खोज पद्धति के पक्ष में यह तर्क भी रहा है कि विज्ञान को एक तैयारशुदा उत्पाद के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाना चाहिए। प्रयोग करने और अवलोकनों से निष्कर्ष निकालने से सक्रिय जुड़ाव और अवधारणा निर्माण के ज़रिए विज्ञान की पद्धति के बारे में सीखने के अवसर मिलते हैं। कुछ विषयों को छोड़ने के तर्क को लेकर मेरी दो दिक्कतें हैंः एक तो है किसी विषय की अमूर्तता के स्तर को लेकर। दिक्कत यह है कि इस मामले में हमने एकरूपता से काम नहीं लिया। उदाहरण के लिए संयोग और संभाविता, जो कक्षा 8 की पुस्तक का एक अध्याय था। यह बहुत ही अमूर्त विषय है। इसके अलावा मैं यह भी जानती हूं - हो सकता है अब कुछ बदलाव आया हो - कि बड़ी संख्या में शिक्षकों को उस अध्याय में, उसकी गतिविधियों में मज़ा आता था मगर वे उसमें निहित अवधारणा को नहीं समझ पाते थे, और कक्षा में प्रायः गलतियां करते थे। तो जहां तक जुड़ाव का सवाल है, तो शिक्षक बहुत सक्रिय होते थे और बच्चों को भी काम करने में मज़ा आता था मगर यह कभी स्पष्ट नहीं होता था कि क्या वे अवधारणा को समझ पाए हैं। फिर भी यह अध्याय हो.वि.शि.का. की पुस्तक बाल वैज्ञानिक में शामिल किया गया था। तो मुझे लगता है कि हमने अमूर्तता के आधार पर विषयों को छोड़ने में एकरूपता नहीं बरती। इन निर्णयों के संदर्भ में हम अवधारणाओं की क्रमबद्धता से संचालित नहीं हुए थे, बल्कि प्रयोग के पहलू से संचालित हुए थे, किसी विषय को रखने या छोड़ने का फैसला हम इस आधार पर करते थे कि प्रयोग संभव है या नहीं।

यह सवाल पूछने की ज़रूरत है कि क्या इन दो शर्तों - किताब में सीधे कोई जानकारी न देना और सीखना सिर्फ प्रयोगों के माध्यम से होना चाहिए - से बहुत लंबे समय तक चिपके रहने के चलते अन्य विधियों से विज्ञान सीखने को बढ़ावा नहीं दिया गया। मैं यह नहीं कह रही हूं कि इस पर बहस नहीं हुई, यह सवाल आज भी खुला है, मगर यह एक महत्वपूर्ण सवाल है। मसलन, क्या हमें खोजों के बारे में पढ़ने को जगह देनी चाहिए, या वैज्ञानिकों के कार्यों से सीखने को शामिल करना चाहिए? अब, जैसा कि सुशील ने बताया, इनमें से कुछ चीज़ों को शामिल किया भी गया है। अलबत्ता शिक्षा पद्धति व दार्शनिक समस्याओं के अलावा इसने व्यावहारिक समस्याएं भी पैदा की थीं। काफी सारी चीज़ें शिक्षक पर छोड़ दी गई थीं, या यह मान लिया गया था कि बाल वैज्ञानिक में सीधे-सीधे जानकारी न देकर हमें बच्चों को प्रोत्साहित करना चाहिए कि वे अन्य

स्रोतों से पढ़ें, जानकारी एकत्र करें और समझ बनाएं। और यही कारण है कि किशोर भारती के बाद एकलव्य ने भरपूर मात्रा में पूरक पठन सामग्री प्रकाशित की है जो बहुत रोचक है और लोगों की पहुंच में है। मगर सवाल यह है कि यदि इस तरह की सामग्री उपलब्ध न हो, तो छात्र कहां जाएं? आज भी कई छात्रों के लिए विज्ञान पाठ्य पुस्तक ही एकमात्र चीज़ उपलब्ध है। तो जहां यह महत्वपूर्ण है कि विज्ञान की पूरक पठन सामग्री उपलब्ध कराई जाए और छात्रों, शिक्षकों और पालकों व समुदाय के अन्य लोगों को विज्ञान तथा अन्य मुद्दों के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा पढ़ने को प्रेरित किया जाए, वहीं यह सवाल भी है कि क्या यह बात पाठ्य पुस्तक में जानकारी देने का स्थान ले सकती है? तो यह सवाल शेष है। यह मेरा दूसरा बिंदु है।

पहला बिंदु औपचारिक संस्थाओं में परिस्थिति का था ही। मगर जब हम उन संस्थाओं की बात करते हैं जो नवाचारी काम कर रहे हैं - और ज़ाहिर है कि मैं सामान्यीकरण नहीं कर सकती - तो सवाल यह है कि क्या इस तरह की प्रयोग-केंद्रिकता और जानकारी, सीधे-सीधे जानकारी न देने की ज़िद आज के संदर्भ में वांछनीय है? या क्या ये बातें 30 साल पहले भी वांछनीय थीं? महत्वपूर्ण बात यह है कि न तो किताबों में और न ही शिक्षक उन्मुखीकरण कार्यक्रमों में विज्ञान से जुड़े दार्शनिक मुद्दों की चर्चा की जाती थी। शायद कुछ लोग कहेंगे कि मैं इतना भारी-भरकम कथन नहीं दे सकती, और मैं सहमत हूं मगर यह मेरा सामान्य एहसास है। और न ही उन्होंने उन मुद्दों की बात की थी जिन पर हम आज चर्चा कर रहे हैं, जैसे गलत अवधारणाओं से निपटना, आदर्शीकरण की भूमिका या ख्याली प्रयोग वगैरह। मैं जानती हूं कि यह सवाल फौरन पूछा जाएगा कि क्या यह सब छात्रों के साथ करना संभव है। तो मैं जानना चाहूंगी कि कम से कम शिक्षकों के साथ यह क्यों नहीं किया जा सकता। हम सघन शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाते थे और मुझे याद नहीं कि हम उस काम से आगे गए हों जो शिक्षक को कक्षा में कराना होता था। कुछ हद तक ज़रूर करते थे मगर शिक्षक समर्थन तंत्र के संदर्भ में शिक्षक के लिए इतना ही पर्याप्त होता है कि वह कक्षा में एक तार्किक प्रक्रिया का पालन करे। तो सवाल यह है कि छात्रों के साथ ऐसे मुद्दों की चर्चा की जा सकती है या नहीं। मुझे याद है कि सुबह फरीदा ने बताया था कि छात्रों के साथ भी काफी सैद्धांतीकरण किया जा सकता है। चूंकि मैंने सीधे बच्चों के साथ काम नहीं किया है और मैं पियाजे के काम से भी बहुत वाकिफ नहीं हूं, इसलिए मैं नहीं जानती कि किस अवस्था में छात्रों के साथ यह सब किया जा सकता है, मगर शिक्षकों के साथ तो यकीनन किया जा सकता है। मैं यहां रुकती हूं क्योंकि यही दो बिंदु थे जिन्हें मैं रेखांकित करना चाहती थी। और मैं यह कहकर अपनी बात समाप्त करना चाहूंगी कि ये अड़चनें ज़्यादा नहीं तो उतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितनी प्रशासनिक व राजनैतिक अड़चनें हैं, जिनकी चर्चा हम करते रहते हैं, क्योंकि इससे बतौर शिक्षक-अध्यापनकर्ता एक शिक्षक की क्षमता बाधित होती है। वास्तव में मैं यहां शिक्षक-अध्यापनकर्ता पर ज़्यादा ज़ोर देना चाहती हूं क्योंकि हम शिक्षकों की बातें बहुत करते हैं जबकि शिक्षक-अध्यापनकर्ताओं और कैसे वे शिक्षा और खासकर विज्ञान शिक्षा को सीमित करते हैं इसकी बात बहुत कम करते हैं। धन्यवाद।

रियाज़ तहसीन

शुक्रिया साधनाजी। अब मैं डॉ. दीवान से अनुरोध करता हूं कि वे अपनी बात रखें।

हृदय कांत दीवान

साधना ने जो कुछ कहा उसमें कुछ छोटी-छोटी बातें जोड़ूंगा। हम इस विषय में बात कर रहे हैं कि एक विज्ञान कक्षा कैसी होनी चाहिए; हमने यह चर्चा की कि एक बांधने वाली विज्ञान कक्षा के लिए क्या ज़रूरी है। पिछले दो दिनों में जो कुछ कहा गया है, उसमें से कुछ बातों को सूचीबद्ध कर देता हूं।

मेरे ख्याल में यह कहा गया है कि कक्षा में प्रयोग और गतिविधियां होनी चाहिए। मैं इस बहस में नहीं जा रहा हूं कि इनमें से किस चीज़ पर ज़्यादा ज़ोर देना चाहिए और किस पर कम। मगर यह बात लोगों ने कही। लोगों ने यह भी कहा है कि कक्षा में बच्चे के लिए और शिक्षक के लिए जगह होनी चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि यह आज़ादी होनी चाहिए और ऐसे अवसर होने चाहिए कि शिक्षक और बच्चे मिलकर कक्षा में नई चीज़ें सीख सकें। इस बात का भी संकेत था कि टोलियों में काम इस प्रक्रिया का अंग होना चाहिए।

ये सुझाव सिर्फ विज्ञान के लिए नहीं दिए गए हैं। इन्हें अन्य विषयों के लिए भी उपयोगी बताया गया है। अर्थात हम बच्चों को बांधने वाली कक्षा का निर्माण करने पर गौर कर रहे हैं और यह समझने की कोशिश कर रहे हैं कि इसकी सीमाएं क्या हैं, और ऐसी कक्षा के निर्माण में अड़चनें क्या आ सकती हैं। खासकर विज्ञान के संदर्भ में लोगों ने कहा है कि हमें बच्चों से सामान्यीकरण करवाना चाहिए, तो ऐसे अवसर होने चाहिए जब बच्चे को सामान्यीकरण करने का मौका मिले - यह बात कुछ अन्य विषयों के लिए भी सही हो सकती है मगर शायद सबके लिए नहीं। बच्चे के लिए पैटर्न खोजने, तर्कसंगत दलीलें और व्याख्याएं निर्मित करने और कार्य-कारण सम्बंध बनाने के भी मौके होने चाहिए। अब यदि बच्चे को यह सब करना है तो इसमें कई मध्यवर्ती चीज़ें हैं, जैसे तुलना के प्रावधान वाले प्रयोग डिज़ाइन करना, यह समझना कि परिकल्पना क्या होती है ताकि आप इसकी जांच के लिए कुछ जुगाड़ कर सकें। फाल्सीफिकेशन (खंडन) क्या होता है? सत्यापन का क्या अर्थ है? हो सकता है कि बच्चा इन्हें न समझे मगर उसे ऐसे मुद्दों के प्रति जागरूक होना चाहिए। तभी वह कथनों को सही या गलत सिद्ध करने के तरीके ढूंढ पाएगा और एक मायने में विज्ञान शिक्षा के उस आदर्श के नज़दीक आ पाएगा जिसकी हमने बातें की हैं। तो देखें कि इसके लिए क्या ज़रूरी है। इसके लिए कक्षा में एक ऐसा शिक्षक चाहिए जो यह सब कर सके। इसके लिए जगह, भौतिक जगह, की ज़रूरत है, जो साधना ने कहा कि बहुत अहम है। इसके लिए शिक्षक को योजना बनाने व सोचने का मौका होना चाहिए, इसके लिए ज़रूरी है कि कक्षा में समर्थन तंत्र सुगमता से उपलब्ध हो और इतना सहारा दे कि शिक्षक कक्षा में चर्चा को खोलने में आश्वस्त महसूस करे। ये शिक्षक से कुछ अपेक्षाएं हैं। इसके लिए कुछ सामग्री की भी ज़रूरत है, मगर मेरे ख्याल में वह कोई बड़ा मुद्दा नहीं है, कम से कम अब तो नहीं है। शिक्षक के स्तर पर कुछ अड़चनें हैं - उनकी पृष्ठभूमि क्या है, वे किस योग्यता के साथ आए हैं और इन योग्यताओं की गुणवत्ता क्या है, जो उनके नियंत्रण में नहीं होती। कहने का मतलब यह है कि आप स्कूलों में विज्ञान शिक्षा में सुधार नहीं कर सकते जब तक कि विश्वविद्यालय की शिक्षा को नहीं सुधार देते। विज्ञान शिक्षा सुधार में यह एक अड़चन है।

दूसरी अड़चन, जिसके बारे में साधना ने काफी विस्तार से चर्चा की है, इसका सम्बंध शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं में शिक्षकों की तैयारी की गुणवत्ता से और इस बात से है कि सेवाकालीन कार्यक्रमों में किस तरह

का सहारा मिलता है। इसकी बात हम पिछले सत्र में कर चुके हैं, मैं इसमें और विस्तार में नहीं जाना चाहता। तीसरी समस्या मूल्यांकन विधियों व शिक्षण विधियों सम्बंधी वे सुझाव हैं, जो शिक्षक को लगातार दिए जाते हैं। इसके अलावा समुदाय द्वारा डाला जा रहा दबाव भी है कि उसकी क्या अपेक्षाएं हैं। ये भी वे कारक हैं जो शिक्षण को मुश्किल बनाते हैं। लिहाज़ा, यह बात बहुत महत्वपूर्ण है कि शिक्षा या विज्ञान शिक्षा में सुधार की सबसे बड़ी अड़चन वह सामाजिक व सांस्कृतिक माहौल है जिसमें स्कूल स्थित है। यदि समाज व पालकों की अपेक्षाएं एक तरह की हैं, तो स्कूल उन अपेक्षाओं से बुनियादी रूप से बहुत अलग राह पर नहीं जा सकता। यदि हम मान लें कि शिक्षक समर्थ है और तर्कसंगत हैं ताकि वे खुली चर्चा की अनुमति दे सकें, और पूर्वाग्रह से मुक्त हैं, तो भी उनके लिए वर्तमान समाज के संदर्भ में यह करना संभव नहीं होगा। मैं कहना यह चाहता हूं कि जब हम अच्छी विज्ञान शिक्षा की अड़चनों की बात करते हैं, तो एक अड़चन स्वयं समाज है। तो सवाल यह आता है कि आप शिक्षा में बदलाव किए बगैर समाज में बदलाव कैसे करेंगे और समाज में बदलाव किए बगैर शिक्षा में बदलाव कैसे करेंगे? तब यह एक ऐसा मुद्दा हो जाता है जिससे आपको एक साथ निपटना होगा। और यह क्यों ज़रूरी है? क्योंकि शिक्षा की इन प्रक्रियाओं में बदलाव को एक प्रणाली में यांत्रिक इनपुट्स की तरह देखा जाता है, इन्हें एक समाजवैज्ञानिक हस्तक्षेप की तरह नहीं देखा जाता। मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूं कि यह अपेक्षा ही गलत है कि 30 सालों में एक अलग ढंग के इन्सान पैदा हो जाने चाहिए थे क्योंकि जिस सामाजिक बदलाव को एक शैक्षिक बदलाव से जोड़ना है वह कहीं बड़ा बदलाव है। तो आप सर्व शिक्षा अभियान या डीपीईपी या हो.वि.शि.का. जैसे हस्तक्षेप के ज़रिए यही कर सकते हैं कि तंत्र को झकझोर दें। आप यह नहीं कह पाएंगे कि "देखो, यह हो.वि.शि.का. का परिणाम है" क्योंकि हो.वि.शि.का. का परिणाम एक सामाजिक परिवेश से अंतर्क्रिया का नतीजा है। तो मेरे ख्याल में इस बात को स्वीकार करने की ज़रूरत है कि शिक्षा में बदलाव की सीमाएं हैं। जिस दूसरे मुद्दे पर गौर करने की ज़रूरत है वह है बच्चों की पृष्ठभूमि और सामग्री के साथ अलगाव। इस मुद्दे को कार्यशाला में रेखांकित किया गया है और हमने यह भी चर्चा की है कि जो विज्ञान हम पढ़ाते हैं, वह मध्यम वर्ग का है। पता नहीं, मैं इस बात से पूरा सहमत हूं या नहीं मगर मैं इतना जानता हूं कि कक्षा में हम जिस तरह की उपमाओं और उदाहरणों का सहारा लेते हैं वे निश्चित रूप से ऐसे नहीं होते जिनके साथ बच्चे सहजता महसूस करें। समस्या यह है कि हम जैसे लोग, जो यह सामग्री तैयार करते हैं, अपनी भरसक कोशिश के बावजूद उस स्तर तक नहीं पहुंच पाते जो विभिन्न पृष्ठभूमियों से आए बच्चों के दिमाग को छूने के लिए ज़रूरी है। यह एक अड़चन है जिसकी छानबीन की जानी चाहिए।

आखरी बात मैं यह कहना चाहूंगा कि सबसे बड़ी अड़चन तो शिक्षक की स्थिति (हैसियत) की है। मेरे ख्याल में यह शिक्षक के ज्ञान के स्तर और क्षमताओं से स्वतंत्र है। बात सिर्फ उस हैसियत की है जो शिक्षक को हासिल है, जिस ढंग से तंत्र उनको देखता है। प्रशासनिक ढांचे में शिक्षक सीढ़ी की सबसे निचली पायदान पर है और प्रशासनिक सीढ़ी में वैसे भी शिक्षा विभाग को सबसे निचला स्थान दिया गया है। शिक्षक का स्थान किसी क्लर्क से भी नीचे है। मेरा क्लर्कों से कोई झगड़ा नहीं है, बात सिर्फ इतनी है कि आम तौर पर शिक्षकों के साथ जिस ढंग का सलूक किया जाता है और जिस तरह से उन्हें प्रशासनिक तंत्र में पेंदे पर धकेल दिया

जाता है, उसके बाद उनके लिए यह गुंजाइश ही नहीं रह जाती कि वे कह सकें कि मेरा यह मत है और मैं कक्षा में इसके अनुसार चलना चाहता हूं, या क्या शिक्षा अथवा विषय के अपने इस नज़रिए को लेकर मैं अपने बच्चों के साथ किसी पाठ की खोजबीन कर सकता हूं? तो बदलाव की किसी भी प्रक्रिया में एक अड़चन यह है कि जिस ढंग से व्यवस्था शिक्षक को देखती है। और यदि हम शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों को बदलना चाहते हैं तो हमें इसका सामना करना होगा।

मैं यह बात नहीं करूंगा कि पाठ्यक्रम सम्बंधी मुद्दे हैं, आर्थिक पहलू हैं और अन्य पहलू हैं क्योंकि ये ज़्यादा व्यापक तंत्रगत मुद्दे के हिस्से हैं। मगर तथ्य यह है कि प्रशासनिक तंत्र में शिक्षा और शिक्षकों को एक अलग ढंग से देखने की ज़रूरत है, कि हमें यह समझना होगा कि कक्षा में बदलाव की कोई भी प्रक्रिया समाज में बदलाव की प्रक्रिया का हिस्सा होगी, कि शिक्षक के सीखने के लिए जगह निर्मित करने की ज़रूरत है, कि हमें विश्वविद्यालयीन शिक्षा को बेहतर बनाना होगा। मेरा ख्याल है कि एक बेहतर शिक्षा व्यवस्था की रचना में ये सब महत्वपूर्ण होंगे। शुक्रिया।

चर्चा

रियाज़ तहसीनः धन्यवाद हार्डी। अब सवाल-जवाब का सत्र होगा। हमारे पास करीब 10 मिनट हैं, करीब 5 सवालों का समय है।

सुशील जोशीः मुझे लगता है कि अड़चनों की सूची में से दो महत्वपूर्ण मुद्दे छूट गए हैं। इनमें से एक मुद्दा उभरता हुआ मुद्दा है जबकि दूसरा तो पहले से मौजूद है। हम कोचिंग उद्योग के केंद्र के नज़दीक बैठे हैं और मेरा ख्याल है कि कोचिंग और प्रतिस्पर्धी परीक्षाओं की व्यवस्था शिक्षा में सुधार की राह में एक रोड़ा है। दरअसल, हो.वि.शि.का. के संदर्भ में एक मुद्दा यह उठाया गया था कि हो.वि.शि.का. से उत्तीर्ण होने वाले बच्चों का प्रदर्शन प्रतिस्पर्धी परीक्षाओं में उतना अच्छा नहीं होता। दूसरा मुद्दा यह है कि शिक्षा के अधिकार के नए विधेयक में लगभग जानबूझकर निजी स्कूलों के नियमन को छोड़ दिया गया है। और जब आप निजी स्कूलों को छोड़ देते हैं, जिनकी उपस्थिति काफी विस्तृत हो चुकी है, मेरे ख्याल में पिछले 10 सालों में कम से कम 50 प्रतिशत छात्र सरकारी स्कूल छोड़कर निजी स्कूलों में गए हैं और यदि निजी स्कूलों पर कोई नियंत्रण नहीं है, कि वे क्या पढ़ाते हैं, किस तरह के शिक्षक नियुक्त करते हैं, उनके शिक्षक प्रशिक्षण के लिए जाते हैं या नहीं, वे किस तरह की पाठ्य पुस्तकें इस्तेमाल करते हैं, और एकाधिक पाठ्य पुस्तकों की चर्चाओं के चलते, मेरे ख्याल में इन सारे मुद्दों पर चर्चा करने की ज़रूरत है। और दरअसल मैं अनुरोध करूंगा कि शिक्षा अधिकार विधेयक में निजी क्षेत्र के नियमन को शामिल किया जाना चाहिए।

राकेश सक्सेनाः मैं राकेश सक्सेना हूं, विद्या भवन से। हालांकि मैं उन बातों की सराहना करता हूं और सहमत हूं जो साधना और हार्डी ने शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों के बारे में कही हैं। मगर मुझे खास तौर से हार्डी से इस बात को लेकर दिक्कत है कि जिस ढंग से उन्होंने शिक्षक को तंत्र के एक पीड़ित के रूप में प्रस्तुत किया है जबकि इस वर्ग आधारित समाज में मुझे वह स्पष्ट रूप से व्यवस्था की एक कठपुतली ही नज़र आता है।

मैं हार्डी को हालिया इतिहास में कुछ वर्ष पहले ले जाना चाहूंगा जब सरकारी स्कूल देश के सर्वोत्तम स्कूलों में गिने जाते थे और फिर आज की हालत देखें। यदि आप वेतनमान देखें, भत्ते देखें, विशेषाधिकार देखें, समाज से मिली सुरक्षा देखें, तो शिक्षक कहीं बेहतर स्थिति में हैं। तो सुबह जो बात कही जा रही थी और शायद साधनाजी भी उस तरफ इशारा कर रही थीं, जो इस बात से सम्बंधित है कि शिक्षक प्रशिक्षण के ऐतिहासिक व दार्शनिक पहलुओं को छोड़ दिया गया है, और सुबह के सत्र में किसी ने बताया था कि होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का क्या हुआ - आपने इतनी कोशिशें कीं और क्या निकला? शिक्षक को क्या हो रहा यह वास्तव में बुनियाद में है।

इस तर्क में चिंता की बात यह है कि पूरे तंत्र में से एक हितधारी के प्रति अति-बचाव की मुद्रा अपनाकर शायद हम पूरे तंत्र को ही नुकसान पहुंचाएंगे। मुझे जो बात ज़्यादा मौजूं लगती है वह यह है कि शिक्षक को, जो भी धरातल पर बच्चों की देखभाल करने वाला है, उसे सामाजिक व्यवस्था के मुद्दों से, सामाजिक यथार्थ से परिचित कराया जाए, संवेदी बनाया जाए। इस देश के 90 प्रतिशत बच्चों को समाज के ऊपरी 10 प्रतिशत तबके से आए लोग संभाल रहे हैं। इसलिए जब इस परिदृश्य में शिक्षकों के बारे में तरस और हमदर्दी से बात की जाती है, तो मेरे लिए सहमत होना मुश्किल होता है। मैं देखता हूं कि खास तौर से सरकारी व्यवस्था, जो ग्रामीण लोगों और समाज के गरीब तबकों की सेवा करती है, उनमें शिक्षक वित्तीय व आर्थिक रूप से उन बच्चों से कहीं बेहतर स्थिति में हैं जिनकी सेवा करने की उनसे अपेक्षा की जाती है। मैं शिक्षकों को दोष नहीं दे रहा हूं, मैं खुद शिक्षक हूं, मगर मैं इतना निश्चित रूप से कहूंगा कि जवाब इस तबके के प्रति अनावश्यक रूप से भावुक या ज़ज़्बाती होने में या अनावश्यक रूप से उसका बचाव करने में नहीं है। हमें समाज के उस तबके के बच्चों के जीवन के प्रति यथार्थवादी होना पड़ेगा जिन्हें उस तरह की अधिकांश पठन सामग्री या संसाधन उपलब्ध नहीं हैं जिनकी बात वे कह रही थीं। न तो प्रयोगों के लिए जगह है और न ही इंटरनेट सुलभ है। एक बार जब हमने यह व्यवसाय चुन लिया है, तो मेरे ख्याल में बतौर शिक्षक हमें व्यवस्था से झगड़ने का कोई अधिकार नहीं है। व्यवस्था, बदतर से बदतर व्यवस्था भी संभावनाएं प्रदान करती है। शुक्रिया।

सत्यजीत रथ : वास्तव में मैं वही सवाल दोहरा रहा हूं जो मैंने पहले भी पूछा था। मुझे लगता है कि यह एक मुद्दा है कि छात्रों और शिक्षकों के बीच कितना बदलाव हुआ है, और मुझे लगता है कि यह सवाल साधना की उस बात से जुड़ता है जो वे कार्यक्रम के प्रयोग-आधारितपन, अमूर्त अनुभवों के अभाव और शिक्षक प्रशिक्षण में उसी के विस्तार के बारे में कह रही थीं। मैं सोच रहा था कि इस सबका अर्थ क्या है, खास तौर से इस बात के मद्देनज़र कि हो.वि.शि.का. अंततः किस तरह बंद हुआ...। मुझे लगता है कि कहीं इस सबका सम्बंध उस चीज़ के अभाव से तो नहीं है जिसे मेरे ख्याल में रमा कांत कहेंगे कि राजनैतिक विचारधारा को विज्ञान शिक्षा की परियोजना में जोड़ा जा रहा है। यदि ऐसी कोई विचारधारा होती, तो यह एक राजनैतिक परियोजना होती, जिसका असर तीन दशक बाद कुछ भिन्न होता। हमने अभी जिस तरह की सरकारी व्यवस्था की बात की है, उसके अंदर विज्ञान शिक्षा, या दरअसल शिक्षा के तहत एक स्पष्ट राजनैतिक परियोजना कैसे हासिल करें? तो कुल मिलाकर मैं वही सवाल वर्तमान प्रस्तुतीकरण में कही बातों के संदर्भ में फिर से पूछ रहा हूं।

रियाज़ तहसीन : शुक्रिया। क्या अब जवाबों पर चलें?

साधना सक्सेना : मुझे लगता है कि यह महत्वपूर्ण है कि सुशील ने हमारा ध्यान कोचिंग सेंटर्स की ओर खींचा है और बताया है कि किस तरह कोचिंग सेंटर्स एक खास दिशा में चलने का दबाव बनाते हैं। मैं मानती हूं कि स्कूल स्तर पर विज्ञान शिक्षा में कोई भी सार्थक काम करने में यह एक प्रमुख अड़चन है। और दूसरा मैं सहमत हूं कि निजी स्कूलों के नियमन के अभाव में और ज़्यादा निजी स्कूलों का खुलना विज्ञान शिक्षा पर और सामान्य रूप से शिक्षा पर असर डालेगा जो होने भी लगा है। निजी स्कूलों की संख्या बढ़ती जा रही है। हालात ऐसे हैं कि कोई भी स्कूल खोल सकता है।

मुझे पता नहीं कि क्या हमें उस मुद्दे में जाना चाहिए जो राकेश ने उठाया है। यह बहुत विवादास्पद मुद्दा है, क्या हमें शिक्षकों से हमदर्दी रखनी चाहिए या हमें उनकी आलोचना भर करनी चाहिए और शिक्षकों को लेकर एक संतुलित समझ क्या होगी। जब आप कहते हैं कि ऐसे शिक्षक हैं जो काम नहीं करते तो मैं कहूंगी कि ऐसे शिक्षक भी हैं जो काम करते हैं। चलते-चलते कहूं कि हम आम तौर पर कह देते हैं कि 50 प्रतिशत शिक्षक काम नहीं करते मगर जो लोग ऐसे आंकड़े बताते हैं, मुझे नहीं लगता कि उनके पास इनका कोई आधार होता है। हां, वे कोई अध्ययन बता सकें तो बात अलग है। बहरहाल, स्थिति यह है कि हम सब जानते हैं कि ऐसे शिक्षक हैं जो काम नहीं करते और ऐसे शिक्षक भी हैं जो काम करते हैं। और हम इस बात को इसी स्तर पर नहीं छोड़ सकते क्योंकि यदि हम औपचारिक शिक्षा में काम कर रहे हैं तो हमें शिक्षकों के साथ काम करना होगा। लिहाज़ा सिर्फ शिक्षकों की आलोचना करके आप स्थिति से आंखें चुरा रहे हैं। तो महत्व का सवाल यह है - यदि शिक्षक काम नहीं करते, तो क्यों नहीं करते? और क्या परिवर्तन करना होंगे कि वे काम करने लगें? मेरे ख्याल में कई संस्थाएं ठीक यही करने का प्रयास कर रही हैं। मैं सरकारी संस्थाओं की नहीं बल्कि स्वायत्त प्रयासों की बात कर रही हूं। कम से कम एक स्तर पर लोग कोशिश कर रहे हैं कि शिक्षकों को वह शैक्षिक सहारा मिल पाए जिसकी उन्हें ज़रूरत है। इसका मतलब यह नहीं है कि इससे समस्या हल हो रही है। यह एक पहलू है, मेरे ख्याल में दूसरा पहलू है कि हमें बदलती नीतियों के साथ शिक्षक की हालत पर विचार करना होगा, मेरा मतलब है हम यह समझ नहीं पाते हैं कि कैसे पूरा मुद्दा, जैसे शिक्षकों की सुरक्षा का पूरा मुद्दा ज़बर्दस्त ढंग से बदल रहा है। उन शिक्षकों का मुद्दा है जो स्थायी कर्मचारी नहीं हैं, अनुबंधित कर्मचारी हैं। अंनुबंध व्यवस्था के पक्ष में तमाम दलीलें दी जाती हैं - अनुबंधित शिक्षकों का प्रदर्शन बेहतर होता है, अनुबंधित शिक्षकों द्वारा पढ़ाए गए छात्रों का प्रदर्शन बेहतर होता है। मगर यह यथार्थ का एक पक्ष है। यथार्थ का दूसरा पक्ष भी है। और मुझे लगता है कि यदि हम शिक्षकों के बारे में चर्चा करना चाहते हैं, तो हमें दोनों पक्षों की बात करनी होगी और पूरे मुद्दे की एक संतुलित समझ बनानी होगी।

हृदय कांत दीवान : मैं सबसे पहले राकेश को एक स्पष्टीकरण देना चाहूंगा। मैं आर्थिक लाभों की बात नहीं कर रहा हूं, तो मुझे लगता है कि आपने मेरी प्रमुख बात को गलत समझा है। मेरा आशय मूलतः शिक्षक की इस स्थिति से है कि उसे एक सम्माननीय व्यक्ति माना जाए और सरकारी तंत्र में उनकी स्थिति निजी स्कूलों से बहुत भिन्न है। सरकारी स्कूलों में, चाहे अनुबंध ही हो, जिस सम्मान के साथ शिक्षक के साथ व्यवहार किया जाता है वह महत्वपूर्ण है, वहां आपको वेतन मिलता है, शायद ज़्यादा ही मिलता है, इस काम में तथाकथित सुरक्षा है, शायद ज़्यादा है, मगर एक इन्सान के रूप में आपका जितना अपमान होता है वह कहीं अधिक है। और इसलिए एक शिक्षक के रूप में कुछ सार्थक करने की प्रेरणा बहुत कम है। तो मैं आर्थिक लाभों की बात बिलकुल नहीं कर रहा हूं। यह एक स्पष्टीकरण है।

आपने एक बहुत मुश्किल सवाल पूछा है, मेरा मतलब है, एक तरह से आप यह पूछ रहे हैं कि क्या एक शिक्षक सामाजिक पुनर्निर्माण का नेतृत्व कर सकता है, क्या एक स्कूल तंत्र पुनर्निर्माण की अगुआई कर सकता है, क्या वह रोशनख्याली का मार्ग प्रशस्त कर सकता है? मैं नहीं जानता। मैं कहना यह चाहता था कि शिक्षा में बदलाव समाज में बदलाव से जुड़ा है। अलबत्ता आप जो कर पाएंगे वह यह है कि यह सुनिश्चित करें कि राजनीति के साथ, सामाजिक व्यवस्था के साथ और आस्था प्रणालियों के साथ संवाद संभव हो पाए। मैं सोचता हूं कि आप इससे अधिक का लक्ष्य नहीं रख सकते क्योंकि यह एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था है, हरेक को अपना मत रखने का अधिकार है और इसलिए व्यवस्था में कुछ सीमाएं हैं। देखिए, मुझे यह कहने की इज़ाजत नहीं है कि मेरा विश्वास है कि समाज को बदलने का यह तरीका है, किसी और को भी यह कहने की इज़ाजत नहीं है कि समाज को ऐसे बदला जाए। हमें स्कूल की सीमाओं को मानना होगा और उनके अंदर हम विचार-विमर्श कर सकते हैं और इसलिए स्कूल शिक्षा के ज़रिए सामाजिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया आम सहमति के इस मोटे-मोटे ढांचे में ही हो सकती है। तो निर्माणवाद की यह एक समस्या है - इसमें शिक्षकों और बच्चों को जो वे चाहें करने की छूट होती है जबकि आप वास्तव में ऐसा नहीं कह रहे हैं, सब कुछ एक ढांचे के अंतर्गत ही होगा। और वह ढांचा एक व्यापक प्रजातांत्रिक आम सहमति से तय होगा। यह आम सहमति इधर या उधर जा सकती है और यह इस बात पर निर्भर होगा कि हम विमर्श को कितने अच्छे से संयोजित करते हैं।

हां, आपका सवाल। मेरे लिए बड़ा मुद्दा यह नहीं है कि बच्चों ने वैज्ञानिक अवधारणाओं के नाम पर कितना सीखा; मेरे लिए प्रमुख बात यह है कि मध्य प्रदेश में और बाकी पूरे देश में शिक्षा पर एक बहस चली जिसे इस हस्तक्षेप ने प्रभावित किया। मैंने, हम तीन लोगों ने शिक्षकों व छात्रों के रवैयों पर एक अध्ययन किया है। मैं उस अध्ययन के नतीजे साझा नहीं करना चाहता, वे बहुत सकारात्मक हैं, मगर उससे कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि मेरे ख्याल से वह कोई बड़ी उपलब्धि नहीं है, क्योंकि अध्ययन भी दर्शाता है कि विज्ञान के संदर्भ में शैक्षिक उपलब्धियां बहुत बढ़िया नहीं हैं, तो यह कोई निर्णायक बात नहीं है। मेरे लिए बदलाव के किसी भी कार्यक्रम के संदर्भ में प्रमुख सवाल यह है कि वह उन लोगों में किस तरह की सोच पैदा करता है जो उसके संपर्क में आते हैं। और मेरे ख्याल में यह उल्लेखनीय है कि होशंगाबाद के शिक्षक आज भी गतिविधियों को, टोलियों में काम करने को और विषय को अन्य शिक्षकों की अपेक्षा अलग ढंग से देखते हैं। मेरे ख्याल में यह एक महत्वपूर्ण बात है। शुक्रिया।